शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

श्रावण : २४८० वर्ष दसवाँ अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

दिव्यध्वनि मुक्तजीव की वाणी है और वह मुक्ति का पंथ बतलानेवाली है। द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता समझकर, पर्याय अन्तर्मुख होकर अपने द्रव्य का आश्रय ले, वही मुक्ति का पंथ है। सर्व भगवन्तों ने इसी रीति से मुक्ति प्राप्त की और ऐसा ही मोक्षमार्ग का उपदेश जगत को दिया। जिसप्रकार भगवान मुक्ति को प्राप्त हुए, उसीप्रकार उनकी वाणी में कथित इस मार्ग को समझकर जगत के जीव मोक्ष प्राप्त न कर सकें—ऐसा नहीं हो सकता। जो समझकर स्वाश्रय करेगा, वह अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होगा... जो समझे, उसकी बलिहारी!

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११२]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

सूचना

धार्मिकोत्सव के दिनों में—ता. २६-८-५४ से १२-९-५४ तक—पुस्तकों की बिक्री पर कमीशन इसप्रकार रहेगा—

१— हिन्दी पुस्तकें २५ प्रतिशत कम मूल्य रखकर ही बेची जाती हैं, अत: वे मुद्रित मूल्य पर ही मिल सकेंगी, विशेष कमीशन नहीं दिया जायगा।

२— गुजराती पुस्तकों में नियमसार, प्रवचनसार, समयसार तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर कमीशन नहीं दिया जायगा। क्योंकि उनका मूल्य पहले से ही लागत मूल्य से कम रखा गया है। तो भी—

३— गुजराती नियमसार या समयसार की दस-दस प्रतयाँ लेनेवालों को १२-१/२ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

४— गुजराती समयसार प्रवचन भाग १ से ५ हैं। यह पूरा सैट खरीदनेवाले को २५ प्रतिशत कमी. प्राप्त होगा। तथा नियमसार प्रवचन के दो भाग हैं। उनको मिलाकर एक साथ सात पुस्तकें खरीदनेवाले को ३० प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

५— शेष गुजराती पुस्तकों के खरीदने पर निम्नलिखित कमीशन प्राप्त हो सकेगा—

रु. १ से २५ तक की पुस्तकों पर ६-१/४ प्रतिशत

रु. २६ से १०० तक की पुस्तकों पर १२-१/४ प्रतिशत

रु. १०० से अधिक की पुस्तकों पर २५ प्रतिशत

—व्यवस्थापक

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ : सौराष्ट्र

लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका

यह पुस्तक तत्त्वज्ञान के प्रेमी प्रत्येक जिज्ञासुओं के प्रचार योग्य होने से शीघ्र मंगाकर तत्त्व-रहस्य के उत्तम अभ्यास करने का लाभ लीजिये।

मूल्य - ०-४-० (२० बुक से ज्यादा मंगाने पर प्रतिशत २५) कमीशन।

प्राप्तिस्थान -

जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ : सौराष्ट्र

आत्मधर्म

श्रावण : २४८० वर्ष दसवाँ अंक चौथा

ज्ञाता स्वभाव

आत्मा ज्ञातास्वभाव है; ज्ञातास्वभाव, विकार का या पर का कर्ता नहीं है। मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ; ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कर्तव्य है ही नहीं;—ऐसा ज्ञानस्वरूप का निर्णय करने में अपूर्व पुरुषार्थ है। यह बात जीव को पूर्व अनंत काल में नहीं जमी है। अरे भाई! तू अपने स्वभाव की बात सुन तो! अंतर में अपूर्वता लाकर स्वभाव के उत्साहपूर्वक सुनेगा तो अवश्य तेरा कल्याण हो जायेगा।

[धार्मिकोत्सव के प्रथम प्रवचन से : वीर सं. २४७९ भाद्रपद कृष्णा १४, समयसार गाथा ११६ से १२०]

अनादिकाल से अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को चूककर, मैं पर को परिणमित करता हूँ—ऐसी मिथ्या भ्रान्ति के कारण संसार में भटकते हैं। मैं ज्ञानानंदस्वभाव हूँ—ऐसी दृष्टि को चूककर दया, दानादि के परिणाम ही मैं हूँ—ऐसा जो मानते हैं, अर्थात् विकार को ही आत्मा मानते हैं, वे ही ऐसा मानते हैं कि मैं जड़कर्म का परिणमित कर्ता हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह जीव, विकार का कर्ता नहीं होता और न अपने को जड़ का कर्ता मानता है। अहो! मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ—यह बात पूर्व अनंतकाल में एक क्षण भी जीव के अंतर में नहीं जमी है। मैं ही ज्ञान का ही कर्ता हूँ; राग के समय भी राग में तन्मय हुए बिना मैं उसका ज्ञाता हूँ; मैं विकार तथा शरीरादि को परिवर्तित करनेवाला नहीं हूँ।—स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का ऐसा अपूर्व निर्णय प्रगट करना ही धर्म का सच्चा महोत्सव है।

देखो, अंतर में इस देह से भिन्न आत्मा है, उसे न तो किसी ने बनाया है और न कभी उसका नाश होता है; वह स्वयंसिद्ध वस्तु है और उसका स्वभाव 'ज्ञान' है। ज्ञान क्या करता है?—तो कहते हैं कि जानता है।—जानने के अतिरिक्त ज्ञान का दूसरा कोई कार्य नहीं है। रागपर्याय को

उत्पन्न करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय होने से आत्मा, राग का, कर्म का और शरीरादि का ज्ञाता ही रहा।—इसका नाम प्रथम धर्म है।

इसमें क्या करना आया ?

—इसमें ज्ञानस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करना आया। ज्ञाता ने अपने ज्ञानस्वभाव को जानकर उसका निर्णय किया है, वही आत्मा का कार्य है और उसमें धर्म का पुरुषार्थ है। अंतर का यह सच्चा पुरुषार्थ अज्ञानी को दिखलाई नहीं देता और बाह्यक्रिया में आत्मा का पुरुषार्थ मानकर उस विपरीत मान्यता से संसार में भटकता है।

भाई! तू ज्ञान है। पर का और विकार का कार्य तो जिस काल जैसा होना है, वैसा होगा; तू उसमें फेरफार नहीं कर सकता। उस समय ऐसी दृष्टि रख कि मैं ज्ञान हूँ—तू उसका ज्ञाता रह अथवा तो अज्ञानभाव से राग का कर्तृत्व स्वीकार कर। 'मैं था, इसलिये राग हुआ'—यानी ज्ञानस्वभाव के अस्तित्व के कारण राग हुआ—ऐसा जिसने माना, उसने राग को ही अपना कर्तव्य माना है, यानी आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं माना किन्तु रागस्वरूप ही माना है; 'राग मेरा कर्म और मैं उसका कर्ता'—इसप्रकार जिसने राग के साथ स्वभाव की एकता मानी, उसे ज्ञान की अरुचि और राग की रुचि है; वही महान अधर्म है। 'मैं था, इसलिये शरीर चला; आत्मा है, इसलिये भाषा बोली जाती है; मेरी उपस्थिति के कारण पर के कार्य होते हैं; मैं था और मैंने विकार किया; इसलिये कर्मबन्ध हुआ'—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे पर के साथ एकत्वबुद्धि है; उसे वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है। ज्ञानी धर्मात्मा तो जानते हैं कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, मेरे ज्ञानस्वभाव में से तो निर्मल पर्याय की ही रचना होती है, किन्तु विकार की रचना नहीं होती; मैं हूँ, इसलिये रागपर्याय है—ऐसा नहीं है, किन्तु मैं हूँ, इसलिये ज्ञानपर्याय है, मैं हूँ; इसलिये मेरे कारण आनन्द और चारित्र की निर्मल पर्याय है, यानी मैं कर्ता और श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की निर्मल पर्याय हुई, वह मेरा कर्म—इसप्रकार धर्मी जीव स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय का ही कर्ता है। मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा कार्य क्या है—यह बात समझने में जीव की अनादि से भूल हो रही है। यदि यह बात समझे तो अनादिकालीन भूल नष्ट होकर अपूर्व धर्म हो।

आचार्य भगवान कहते हैं कि—

हे भाई! तुझे अपना कल्याण करना है न! तो हम तुझे कल्याण का मार्ग बतलाते हैं।

पहले तू निर्णय कर कि मैं आत्मा हूँ;

मेरा जानने-देखने का स्वभाव है।

राग करना, वह मेरा स्वभाव नहीं है और शरीर को या जड़कर्म को परिणमित करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। मैंने विकार करके जड़कर्म का बंध किया—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसकी दृष्टि मिथ्या है; वह यह नहीं जानता कि मेरा ज्ञानस्वभाव विकार से पृथक् है।

'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसी दृष्टि चूककर अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से विकार का कर्ता होगा, किन्तु जड़कर्म का कर्ता तो अज्ञानभाव से भी नहीं है।

जड़कर्म की भाँति शरीर, भाषा, मकानादि का कर्ता भी आत्मा कभी नहीं हो सकता।

—इसलिये हे जीव! तू समझ कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ और ज्ञान ही मेरा कार्य है; ऐसा समझकर ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मलभावरूप परिणमित होना वह मोक्षमार्ग है और वही तेरे कल्याण का उपाय है।

मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसी जिसे खबर नहीं है, वह जीव पर का अभिमान करके अनंत राग-द्वेष करता है। जहाँ अपनी इच्छानुसार पर में कुछ हो, वहाँ अज्ञानी अभिमान से कहता है कि हमने ऐसा कर दिया! और जहाँ अपनी धारणा से विरुद्ध हो, वहाँ ऐसा कहता है कि—'भाई! इसमें अपना क्या वश! यह कहीं अपने हाथ की बात है!' किन्तु भाई! पर में तेरा नहीं चलता तो फिर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके सर्वत्र ज्ञाता ही रह न! व्यर्थ ही पर का अभिमान किसलिये करता है? मैं तो ज्ञाता हूँ, और पर के कार्य पर के कारण होते हैं, उसका कर्ता मैं नहीं हूँ—ऐसा समझकर सब ओर से दृष्टि उठा ले और अपने ज्ञानस्वभाव में दृष्टि कर,—तो अपूर्व कल्याण हो।

जगत की सर्व वस्तुयें अपने स्वभाव से ही परिवर्तित होती हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने कार्य की कर्ता है, कोई दूसरा उसका कर्ता नहीं है। जगत की जड़ वस्तुओं में भी उनके अपने स्वभाव से परिवर्तित होने की शक्ति है।

(१) यदि उसमें स्वभाव से ही परिणमित होने की शक्ति न हो, तो दूसरा कोई उसे किसीप्रकार परिणमित नहीं कर सकता। और

(२) यदि उसमें स्वयं ही परिणमित होने की शक्ति है तो वह अन्य किसी परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं रखती।

अहो! जड़ की पर्याय जड़ से होती है, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ,—ऐसा समझने से अनादि का आलस्य दूर होकर स्वभाव का अपूर्व उद्यम जागृत होता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि

'आत्मा पर का कर्ता नहीं है—ऐसा समझेंगे तो आलसी हो जायेंगे!' किन्तु अरे मूढ़! पर के मिथ्याहंकार के कारण तुझे ज्ञानस्वभाव का उत्साह नहीं आता, वह महान प्रमाद है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, यह बात चूककर, ऐसा मानता है कि मैं पर का कर्ता हूँ; इसलिये अनादि से अपने स्वरूप में अनुत्साह है, वही महान प्रमाद है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा समझे तो परसन्मुख वृत्ति छूटकर स्वभाव की ओर का अपूर्व उत्साह और उद्यम जागृत हो।—इसलिये यह अनादिकालीन प्रमाद दूर करने की बात है।

शरीरादि को चलाये या जड़ कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा तो आत्मा का स्वभाव नहीं है, और उस जड़ कर्म को उत्पन्न करने में निमित्त हो—ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव, कर्म को निमित्त भी नहीं है। जड़कर्म का निमित्त तो विकार है; इसलिये जो जीव ज्ञानस्वभाव की दृष्टि चूककर विकार का कर्ता होता है, वही अपने को कर्म में निमित्त मानता है। निमित्त होने की जिसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि निर्विकारी ज्ञानानंदस्वभाव पर नहीं है। सम्यक्त्वी को तो ऐसी दृष्टि है कि मैं तो ज्ञानस्वभाव ही हूँ; जड़कर्म और उसके निमित्तरूप विकार—वह दोनों मैं नहीं हूँ।—ऐसी स्वभावदृष्टि के कारण उसे रागरहित निर्मल पर्याय होती जाती है, वह धर्म है।

देखो, यह आत्मा के स्वभाव की बात! अरे भाई! तू अपने स्वभाव की बात सुन तो! अन्तर से उत्साह लाकर एकबार सुन तो कि—अहो! यह तो मेरे स्वभाव की बात है; अभी तक जिसे समझे बिना मैं संसार में भटका, उस स्वभाव की यह बात है।—इसप्रकार अन्तर में अपूर्वता लाकर स्वभाव के उत्साहपूर्वक सुन तो तेरा अवश्य कल्याण होगा। हे जीव! तेरा तो ज्ञानस्वभाव है। जगत की सारी परवस्तुयें अपने-अपने स्वभाव से परिणमित होती है, उसमें तूने क्या किया? तू तो पृथक् रहकर ज्ञाता रहा। अज्ञानी पृथक्त्व का भान भूलकर ज्ञाता न रहकर व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है। तू अपने ज्ञातास्वभाव को पर से और विकार से पृथक् रख। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों रूप से जड़-पुद्गल परिणमित होते हैं, वे अपनी शक्ति से स्वयं परिणमित होते हैं; वे जीव के विकार की भी अपेक्षा नहीं रखते; क्योंकि "वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।" वह महान सिद्धान्त है कि जिसमें जो शक्ति स्वतः हो, वह पर की अपेक्षा नहीं रखता; और जिसमें जो शक्ति स्वतः न हो, वह किसी दूसरे से नहीं हो सकती। वस्तुस्वभाव स्वतंत्र है। जीव का ज्ञानस्वभाव होने से वह अपने ज्ञानस्वरूप परिणमित होकर जानता है, जानने में उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है,

उसीप्रकार जड़-पुद्गल भी अपने परिणमन स्वभाव से ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; उसमें उन्हें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

जब कर्म बंध होता है, तब वह जीव के विकार के प्रमाण में ही होता है—ऐसा मेल होने पर भी वहाँ भी जीव के विकार के कारण कर्म बँधा—ऐसा नहीं है। तब फिर आत्मा शरीर, मकान, पुस्तकादि की पर्याय को परिवर्तित करे—यह तो बात ही कहाँ रही? पुद्गल में ज्ञानवरण का उदय हो, यहाँ जीव की पर्याय में ज्ञान की हीनता हो, और सामने ज्ञानावरण कर्म का बंध होता हो;—वहाँ ऐसा नहीं है कि ज्ञानावरण कर्म के कारण ज्ञान की हीनता हुई है; और जीव की पर्याय में ज्ञान की हीनता के कारण ज्ञानावरण कर्म का बंध हुआ—ऐसा भी नहीं है।

प्रत्येक का परिणमन स्वतंत्र अपने अपने कारण से है। जब जीव ज्ञानी की आसातनादि विकारभाव करता है, तब उस विकार के प्रमाण में ही ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं; तथापि जीव ने उन पुद्गलों को कर्मरूप परिणमित नहीं किया है; तब फिर अन्य पदार्थ—जो कि क्षेत्र से भी जीव से पृथक् हैं उनका—जीव कुछ करे, यह तो बात ही कहाँ रही? जगत की सर्व वस्तुयें अपने-अपने कारण परिणमित होती हैं। उनमें जीव का अधिकार नहीं है। अरे जीव! तू तो ज्ञान है, ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होने का तेरा स्वभाव है; विकाररूप से परिणमित होने का या पर का कुछ करने का तेरा स्वभाव नहीं है। यह समझकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर और पर का अहंकार छोड़! वह सुखी होने का उपाय है।

जगत के सर्व जड़-चेतन पदार्थ स्वयं परिणमित होनेवाले हैं; उनमें आत्मा क्या करेगा? आत्मा उन्हें जानता है, लेकिन उनमें कुछ कर नहीं सकता। जिसप्रकार गर्म पानी में बहुत सी मूँग उबालने के लिये डाली हो, वहाँ जिस मूँग में उबलने की शक्ति हो, वही उबलती है, कोरडी मूँग नहीं उबलती। तब फिर पानी ने क्या किया। उसीप्रकार जगत में तो अनंत परमाणु हैं, और धर्मास्तिकायादि भी हैं, उनमें से जिस समय जिन परमाणुओं में कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति है, उतने ही परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं; दूसरे परिणमित नहीं होते। यदि जीव के विकार के कारण पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हों तो जगत के समस्त पुद्गल कर्मरूप क्यों परिणमित नहीं हो गये? धर्मास्तिकाय क्यों कर्मरूप परिणमित नहीं हुआ? इसलिये कर्मरूप परिणमित होनेवाले पुद्गल स्वतंत्ररूप से ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; जीव उनका कर्ता नहीं है।—ऐसी स्वतंत्रता को स्वीकार किए बिना जीव को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती; ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के

बिना पर का अहंकार दूर नहीं होता, और निराकुल सुख प्रगट नहीं होता। इसीलिये यह समझकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीत करना और पर का अहंकार छोड़ना, वह सुख का मार्ग है।

हे वत्स! तू विचार कर कि तेरा सुख कहाँ है? तेरे ज्ञानतत्त्व में ही तेरा सुख है; विभाव में या पर के कार्यों में तेरा सुख नहीं है; इसलिये पर से और विकार से भिन्न ऐसे ज्ञानस्वरूप की प्रतीति कर और पर का अहंकार छोड़। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पर के कार्य मेरे नहीं है और राग मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जिसे अंतर में भान हो, उसे सभी पक्षों का विवेक होता है; उसका अनंत राग दूर हो जाता है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं, उनकी पहिचानपूर्वक उनके प्रति विनय-बहुमान-भक्ति का भाव आता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भी जिसे निर्णय और बहुमान नहीं है, उसमें तो वास्तव में जैनत्व नहीं है। अहो! मैं ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी आत्मस्वभाव की दृष्टि करना, वह सच्चा जैनत्व है। मैं ज्ञान हूँ और पर के कार्य पर से होते हैं—इसप्रकार यदि प्रत्येक तत्त्व की स्वतंत्रता की सत्य बात ख्याल में आ जाये तो पर के ऊपर से दृष्टि उठाकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में दृष्टि करने से अपूर्व धर्म हो।—इसके अतिरिक्त अन्य रीति से धर्म नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्य करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

सिद्ध भगवान के आठ गुण

१— परम क्षायिक सम्यक्त्व

केवलज्ञानादि गुणों के स्थानरूप जो निज शुद्ध आत्मा है, वही उपादेय है—इसप्रकार को रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो पहले तपश्चरण करने की अवस्था में *उत्पन्न किया था; उसके फलभूत समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेशरहित परिणामरूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नाम का प्रथम गुण सिद्ध भगवंतों में कहा जाता है।

२—केवलज्ञान

पूर्वकाल में छद्मस्थ अवस्था में आये हुए निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के फलभूत एक ही समय में लोकालोक के समस्त पदार्थों के विशेषों को जाननेवाला केवलज्ञान नाम का दूसरा गुण है।

३— केवलदर्शन

सम्पूर्ण विकल्पों से शून्य निज शुद्धात्मा की सत्ता के अवलोकनरूप जो दर्शन पहले भावित किया था, उस दर्शन के फलभूत, एकसाथ लोकालोक के समस्त पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन नाम का तीसरा गुण है।

४— अनंतवीर्य

चैतन्यस्वरूप से चलित होने के कारण कोई घोर परिषह और उपसर्गादि होने के समय पहले अपने निरंजन परमात्मा का ध्यान में धैर्यपूर्वक अवलम्बन किया था, उसके फलभूत, अनंतपदार्थों के ज्ञान में खेद के अभावरूप लक्षण का धारक अनंतवीर्य नाम का चौथा गुण है।

५— सूक्ष्मत्व

सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने से सिद्धों के स्वरूप का सूक्ष्मत्व कहा जाता है; यह सूक्ष्मत्व पाँचवाँ गुण है।

---

* यहाँ तपश्चरण करने की अवस्था में निश्चय सम्यक्त्व होना कहा है, वह निश्चयरत्नत्रय की एकता-अपेक्षा से समझना; अकेला निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में भी होता है।

६—अवगाहन

जिसप्रकार एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों के प्रकाश समावेश हो जाता है, उसीप्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर-व्यतिकर दोष के परिहारपूर्वक अनंत सिद्धों को अवकाश देने का जो सामर्थ्य है, वह छठवाँ अवगाहन गुण है।

७—अगुरुलघुत्व

यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहे के गोले की भांति उसका अधःपतन ही होता रहे, और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो पवन से उड़नेवाले सेमल की रुई की भाँति उसका निरन्तर भ्रमण ही होता रहे—किन्तु सिद्ध का स्वरूप ऐसा नहीं है, इसलिये अगुरुलघुत्व नाम का सातवाँ गुण कहा जाता है।

८—अव्याबाध अनंतसुख

सहजशुद्ध स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा रागादि विभावों से रहित ऐसे सुखरूप अमृत का जो एकदेश अनुभव पूर्व काल में किया था, उसके फलभूत अव्याबाध अनंत सुख का नाम आठवाँ गुण सिद्धों में कहा जाता है।

—ऐसे अष्ट महा गुणों के धारक श्री सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो!

[देखो, वृहद्द्रव्य संग्रह गाथा १४ टीका]

दुःख का कारण

आत्मा तीनों काल परवस्तुओं से भिन्न है—अर्थात् कोई भी बाह्य साधन आत्मा को सुख दुःख के कारण नहीं हैं, लेकिन अज्ञानी पर संयोगों में यह मुझे अनुकूल और यह मुझे प्रतिकूल—ऐसा मानकर मोह के वश उनमें राग-द्वेष करता है, वही संसार परिभ्रमण के दुःख का मूलकारण है।

'हे सखा! चल न मेरे साथ मोक्ष में'

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए मुनिराज स्वयं तो अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से मोक्ष की साधना कर रहे हैं और श्रोता से भी कहते हैं कि हे सखा! तू भी चल न मेरे साथ! हमारा श्रोता हम से अलग रह जाये—यह कैसे हो सकता है? हे मित्र! हमारा उपदेश सुनकर, हमारी भाँति तू भी तुरन्त ही चैतन्यस्वरूप में उग्ररूप से उन्मुख हो। चैतन्य का उग्र अवलम्बन करने से तुझे भी हमारी जैसी दशा प्रगट होगी और अल्पकाल में मोक्ष हो जायेगा।

भव्य जीव को सम्बोधन करके पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज कहते हैं, कि—हे सखा! हे बंधु! तू मेरे उपदेश का सार सुनकर चैतन्यस्वयप की ओर उन्मुख हो; चतुर पुरुषों को उत्तम चैतन्यस्वरूप का ही अवलम्बन करने योग्य है। निरुपम सहज परमानंदरूप चैतन्यतत्त्व का हमने तुझे उपदेश दिया, उसे समझकर हे मित्र! तू तुरन्त ही उग्ररूप से उसमें उन्मुख हो।

(मंदाक्रान्ता)

प्रेक्षावद्भिः सहज परमानन्द चिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्ति साम्राज्य मूलम्।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि य सखे मद्वच सारमस्मिन्
तत्त्वा शीघ्रं कुरु नव मति चिच्चमत्कार मात्रे ॥१३३॥

जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है, ऐसे इस निरुपम, सहज परमानन्दवाले एक चिद्रूप को चतुर पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है; इसलिये हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्यचमत्कार मात्र के प्रति अपनी वृत्ति कर।

देखो, यहाँ कितना सुन्दर सम्बोधन किया है! मुनिराज प्रेम से सम्बोधन करके कहते हैं कि हे सखा! तू भी ऐसा कर... हमने तो अपने चैतन्य का उग्ररूप से अवलम्बन किया है और हमारा उपदेश सुनकर अब तू भी तुरन्त ही चैतन्यस्वरूप में अपनी वृत्ति कर। अध्यात्मउपदेश की हमारी गुंजार सुनकर अंतर में कौन उन्मुख नहीं होगा? उपदेश सुनकर यही करने योग्य है। चतुर पुरुष यानी आत्मार्थी जीवों का यह एक ही कर्तव्य है कि अन्तर्मुख होकर एक चैतन्यस्वरूप का ही अवलम्बन करें। हे मित्र! तू शीघ्र ही ऐसा कर,—ऐसी मुनिराज ने प्रेरणा की है।

उपदेश का सार क्या?—चैतन्यस्वरूप में वृत्ति करना। जो जीव अपने चैतन्यस्वरूप को

सर्व परभावों से भिन्न जानकर उसी में वृत्ति करता है अर्थात् उसकी प्रतीति, ज्ञान और एकाग्रता करता है, वह वास्तव में उपदेश के सार को समझा है। मुनिराज कहते हैं कि हे सखा! हे बंधु! तू मेरे उपदेश का सार सुनकर चैतन्यस्वरूप में अपनी वृत्ति कर, तुरन्त ही कर। चतुर पुरुषों को अर्थात् आत्मार्थी-ज्ञानी-मुमुक्षु जीवों को एक सहज परमानन्दमय आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने योग्य है। आत्मा का सहज स्वरूप अनुपम है, वही मुक्तिसाम्राज्य का मूल है। निरुपम और सहज परमानन्दमय चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा है, अंतर्मुख होकर उसकी भावना करने से मोक्षदशा हो जाती है, इसलिये वही मोक्ष का मूल है और वह एक ही मोक्षार्थी जीव का अवलम्बन है। अध्यात्म-उपदेश सुनकर जो जीव ऐसे एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है और रागादि परभावों या निमित्तादि परद्रव्यों के ग्रहण की बुद्धि छोड़ता है, वही वास्तव में चतुर अर्थात् मोक्षार्थी है। मेरे चैतन्य का शुद्धस्वरूप पुरुष-पाप रहित है, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जानकर शुद्ध चैतन्य में अन्तर्मुख होकर, उस एक का ही ग्रहण करने योग्य है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। मुमुक्षु को शुद्ध चैतन्यस्वरूप के ही ग्रहण से पर भावों का प्रत्याख्यान हो जाता है; इसलिये श्री पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि हे मित्र! मेरा ऐसा उपदेश सुनकर तुरन्त ही उग्र प्रयत्नपूर्वक तू इस चैतन्यचमत्कार स्वभाव में अपनी वृत्ति कर।

यहाँ टीकाकार ने 'हे सखा!' ऐसा प्रेमपूर्ण सम्बोधन किया है, यानी हमें तो अपने चैतन्य के उग्र अवलम्बन से प्रत्याख्यान वर्त रहा है, और तू भी हमारा उपदेश सुनकर अपने चैतन्य का उग्र अवलम्बन कर—जिससे तुझे भी मुझ जैसा प्रत्याख्यान होगा और हम दोनों समान हो जायेंगे। इसप्रकार, 'हे सखा! हे मित्र!'—ऐसा सम्बोधन कर के श्रोता को भी अपने जैसा बनाना चाहते हैं।

हमारा उपदेश सुनकर क्या करना चाहिए?—तुरन्त ही और उग्ररूप से चैतन्यस्वरूप में वृत्ति करना चाहिए। बहिर्मुख वृत्ति का हमारा उपदेश है ही नहीं। चैतन्यस्वरूप की ओर उन्मुख होकर उसमें एकाग्र होना ही हमारे सर्व उपदेश का रहस्य है। जितने ज्ञानी हैं, उन सबके उपदेश का सार यह है कि अपना सहज ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को जानकर उसी में वृत्ति करना। यही मोक्ष का कारण है। हे भव्य! यदि तुझे आत्मा का रंग लगा हो तो अब हमारा उपदेश सुनकर अपनी बुद्धि को चैतन्यस्वरूपोन्मुख कर, अपनी बुद्धि को अन्तरोन्मुख करके चैतन्य का ही ग्रहण कर, और इसके अतिरिक्त परभाव के ग्रहण की बुद्धि छोड़। उग्ररूप से अर्थात् अप्रमादभाव से चैतन्यस्वरूप में वृत्ति करके उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें लीनता करना, वह मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

इस नियमसार के टीकाकार पद्मप्रभ मुनिराज महान संत हैं; आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में झूलते हैं, चैतन्यस्वरूप का खूब अवलम्बन वर्त रहा है;—इस प्रकार स्वयं तो अंतरस्वरूप के अवलम्बन से मोक्ष की साधना कर रहे हैं, और श्रोता से भी कहते हैं कि हे सखा! तू भी चल न मेरे साथ! हमारा श्रोता हम से अलग रह जाये—यह कैसे हो सकता है? हे मित्र! हमारा उपदेश सुनकर, हमारी भाँति तू भी तुरन्त ही चैतन्यस्वरूप में उग्ररूप से अपनी वृत्ति कर। चैतन्य का उग्र अवलम्बन करने से तुझे भी हमारे जैसी दशा प्रगट हो जायेगी और अल्पकाल में मोक्ष हो जायेगा।....

—तस्मादुच्चेस्त्वमपि च सखे! मदुचः सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मति चिच्चमत्कार मात्रे॥

[प्रवचन से]

सम्यक्त्वी का पुरुषार्थ

देखो, यह सम्यक्त्वी का पुरुषार्थ! ऐसा पुरुषार्थ जीव ने पूर्वकाल में कभी नहीं किया। कोई कहे कि हम पुरुषार्थ तो बहुत करते हैं, परन्तु सम्यक्त्व नहीं होता।—तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! तेरी बात झूठ है; यथार्थ कारण दे और कार्य न हो—ऐसा नहीं हो सकता। यदि कार्य प्रगट नहीं होता तो समझ ले कि तेरे प्रयत्न में भूल है। सम्यग्दर्शन होने की जो रीति है, उस रीति से अन्तर में यथार्थ प्रयत्न करे और सम्यग्दर्शन न हो—ऐसा नहीं हो सकता। वास्तव में अपूर्व सम्यग्दर्शन का सच्चा उपाय क्या है, वह जीव ने जाना ही नहीं, और दूसरे विपरीत उपाय को सच्चा उपाय मान लिया है। जहाँ उपाय ही मिथ्या हो, वहाँ सच्चा कार्य कहाँ से प्रगट हो? इसलिये यहाँ समयसार की ग्यारहवीं गाथा में आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का सच्चा और अचूक उपाय बतलाया है। यदि इस उपाय की समझ ले और शुद्धनय का अवलम्बन लेकर अन्तर के ज्ञानानंदस्वभाव को पकड़े तो सम्यग्दर्शन का अपूर्व अनुभव और भेदज्ञान अवश्य हो जाये।

प्रश्न :—यहाँ शुद्धनय का अवलम्बन लेने को कहा, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है—पर्याय है; क्या उस अंश के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर:—वास्तव में शुद्धनय का अवलम्बन कब कहलाता है ?—अकेले अंश को पकड़कर जो उसी के अवलम्बन में रुका है, उस के तो शुद्धनय है ही नहीं; ज्ञान के अंश को अंतरोन्मुख करके जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसी के शुद्धनय होता है, और ऐसी अभेद दृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया—ऐसा कहा जाता है। इसलिये 'शुद्धनय का अवलम्बन'—ऐसा कहने से उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की बात है; परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होकर जो अनुभव हुआ, उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है; उसमें द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का अंश है—पर्याय है, परन्तु वह शुद्धनय अंतर के भूतार्थस्वभाव में अभेद हो गया है, इसलिये वहाँ नय और नय का विषय पृथक् नहीं रहे। जब ज्ञानपर्याय अन्तरोन्मुख होकर शुद्धनय के साथ अभेद हुई, तब शुद्धनय हुआ। यह शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है; जिसप्रकार मैले पानी में कतकफल डालने से वह निर्मल हो जाता है; उस प्रकार कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है; शुद्धनय से भूतार्थस्वभाव का अनुभव करने से आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है। देखो, यह सच्ची औषधि! अनादि से जीव को मिथ्यात्वरूपी रोग लागू हुआ है, वह इस शुद्धनयरूपी औषधि से मिटता है। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा शुद्धनय का अवलम्बन लेकर शुद्धनय का अनुभव करते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है और अनादिकालीन भ्रमणा रोग दूर हो जाता है।

यह बात अपूर्व समझने योग्य है, इसे समझकर अंतर में इसका यथार्थ निर्णय करना, वह सम्यक्दर्शन का कारण है। वास्तव में तो यही करने योग्य है; इसके अतिरिक्त अन्य सब थोथे हैं; उनमें कहीं भी आत्मा का हित नहीं है। *[—श्री मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]*

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१४]

अकार्यकारणत्वशक्ति

ज्ञानस्वरूपी आत्मा में अनंत शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है; अभीतक तेरह शक्तियों का विवेचन हो गया है। चौदहवीं अकार्यकारणत्व है। आत्मा के द्रव्य, गुण या पर्याय को कोई परवस्तु नहीं करता, इसलिये आत्मा अकार्य है, और आत्मा किसी परवस्तु के द्रव्य-गुण या पर्याय को नहीं करता; इसलिये आत्मा अकारण है; पर के साथ के कार्य-कारण भाव से रहित आत्मा स्वयं सर्व से भिन्न एक द्रव्यस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जो पहिचाने, उसके स्वभाव का कार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। आत्मस्वभाव के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा का कार्य है और आत्मा ही उसका कारण है। इसके अतिरिक्त कोई भी परवस्तु आत्मा के कार्य का कारण है ही नहीं। आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं परन्तु उसमें कोई ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं कि जिससे आत्मा का पर कारण हो। आत्मा का कारण पर नहीं है और पर का कारण आत्मा नहीं है; आत्मा के कारण-कार्य आत्मा में ही हैं और पर के कारण-कार्य पर में हैं।

यह अकार्यकारणत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, इसलिये वास्तव में तो क्षणिक विकार का कार्य-कारणपना भी आत्मा में नहीं है। यदि त्रिकाली आत्मा, विकार का कारण हो, तब तो विकार सदैव होता ही रहे—परन्तु ऐसा नहीं है। और आत्मा, विकार का कार्य भी नहीं है; अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय, वह कारण और आत्मा का निश्चयसम्यग्दर्शन, वह कार्य—ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट हुई, वे आत्मा में अभेद हैं; इसलिये जिसप्रकार व्यवहाररत्नत्रय के कारण से आत्मद्रव्य नहीं बनता, उसी प्रकार उसकी निर्मल पर्याय भी नहीं बनती। कारण-कार्य अभेद हैं; यहाँ विकार के साथ भी आत्मा का कारण-कार्यपना स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि कर्म के कारण विकार होता है! यहाँ तो आत्मा की त्रिकाली

शक्तियों की बात है; त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखने से आत्मा में विकार होता ही नहीं, इसलिये आत्मा, विकार का कारण नहीं है – ऐसा समझना चाहिए।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियाँ त्रिकाल हैं, परन्तु शरीर-मन-वाणी या पुण्य-पाप—वे कोई आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में नहीं हैं; इसलिये उन शरीर-मन-वाणी द्वारा या पुण्य-पाप द्वारा आत्मा की महिमा नहीं है, परन्तु अपनी अनंत शक्तियों द्वारा ही आत्मा की महिमा है। जिस प्रकार हलवाई की दुकान पर अफीम या घड़े नहीं मिलते परन्तु मावा मिलता है, और अफीमवाले की दुकान पर मावा नहीं किन्तु अफीम ही मिलती है; जिसके पास जो हो, वह उसी के पास से मिलता है; उसी प्रकार आत्मा, ज्ञान-आनंदादि अनंत गुणों का भण्डार है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने से उसमें से गुण मिलते हैं, किन्तु विकार या जड़ उसमें से नहीं मिल सकते। पुण्य-पाप तो अफीम के गोले समान हैं, उनकी दुकान अलग है; और शरीर-मन-वाणी की क्रिया, वह कुंभार के घड़े जैसी है, उसमें से कहीं से आत्मा का धर्म मिले, ऐसा नहीं है; और आत्मस्वभाव की दुकान से वह किसी काल नहीं मिल सकते। जड़ का कोई भी तत्त्व अथवा जड़ की क्रिया या पुण्य-पाप के विकारीभावों को आत्मा के अंतर्स्वरूप में ढूँढ़ें तो वे नहीं मिल सकते; और जड़ की क्रिया में या विकारी भाव में आत्मा के अंतर्तत्त्व को ढूँढ़े तो वह भी नहीं मिल सकता। जैसे—अफीमवाले की दुकान पर जाकर कोई कहे कि—'शुद्ध दूध का दस सेर मावा दे दीजिये!'—तो वह मूर्ख ही माना जायेगा। अफीमवाले के पास अफीम का मावा होता है किन्तु दूध का मावा नहीं होता। और कुँभार के घर जाकर कोई कहे कि—'दस सेर ताजे पेड़े दे दीजिये!'—तो वह भी मूर्ख ही कहलायेगा। कुंभार के घर तो मिट्टी के पिण्ड होते हैं—वहाँ पेड़े नहीं मिल सकते। और हलवाई की दुकान पर आकर कोई कहे कि—'पाँच तोला असली अफीम दे दीजिये, अथवा पाँच घड़े दे दीजिये।'—तो वह भी मूर्ख ही है। उसी प्रकार आत्मा अनंत गुणों की मूर्ति हलवाई की दुकान जैसा है; उसके पास से आनंदरस की प्राप्ति होती है, उसके बदले विकार में या जड़ की क्रिया में आनन्द लेने जाये अथवा उससे धर्म माने तो वह जीव परमार्थतः महान मूर्खमिथ्यादृष्टि है; जो जीव शरीर की क्रिया से या पुण्य से धर्म मानता है, वह जीव लोकव्यवहार में भले चाहे जैसा बुद्धिशाली माना जाता हो, परन्तु परमार्थ-मार्ग में तो वह मूर्ख ही है। और जिसप्रकार हलवाई की दुकान पर अफीम या घड़े लेने के लिये जानेवाला मूर्ख है, उसी प्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा के पास जड़ की क्रिया और विकार का कराना मानता है, वह भी

मूढ़-मिथ्यादृष्टि ही है। अज्ञानी, शरीर की क्रिया से और पुण्य से आत्मा का बड़प्पन मानते हैं, परन्तु शरीर की क्रिया का या पुण्य का कारण हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है—इसका अज्ञानी को भान ही नहीं है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसा अकार्यकारणपना है कि अपने स्वभाव से अन्य ऐसे कोई भी परद्रव्य या परभावों के साथ कार्यकारणपना नहीं है। शरीर-मन-वाणी या देव-गुरु-शास्त्र सब आत्मा से अन्य हैं। उनसे इस आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता और यह आत्मा उनके कार्य को नहीं करता; और पुण्य-पाप भी आत्मा के स्वभाव से अन्य हैं; इसलिये उनसे आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कुछ कार्य हों—ऐसा नहीं है; और आत्मा कारण होकर उन विकारीभावोंरूप कार्य को उत्पन्न करे—ऐसा भी नहीं है। ऐसा आत्मा का अनादि-अनंत अकार्यकारण स्वभाव है। अपना कार्य पर से नहीं होता और स्वयं पर का कार्य नहीं करता—ऐसी अकार्यकारणत्व शक्ति तो यद्यपि समस्त द्रव्यों में है, परन्तु इस समय आत्मा की पहिचान कराने के लिये उसकी शक्तियों का वर्णन चलता है। किसी भी द्रव्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि अन्य के कार्य को करे; और कोई भी द्रव्य ऐसा पराधीन नहीं है कि अपने कार्य के लिये पृथक् कारण की अपेक्षा रखे।—ऐसा वस्तुस्वरूप है; यह जैनदर्शन का रहस्य है।

ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूप की लोगों को खबर नहीं है, इसलिये अज्ञान के कारण वे ऐसा देखते हैं कि मैंने पर का कार्य किया और पर के कारण मेरा कार्य हुआ। मकान के ऊपर मुँडेर डालने के लिए सौ मन की कैंची ऊपर चढ़ रही हो, वहाँ भ्रम से—संयोगी दृष्टि से—अज्ञानी ऐसा समझता है कि पचास मजदूरों ने मिलकर शक्ति लगायी, इसलिये यह कैंची ऊपर उठी है। अब यथार्थ दृष्टि से देखने पर वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि मजदूर और कैंची दोनों बिलकुल पृथक-पृथक वस्तुयें हैं, इसलिये किसी के कारण दूसरे में कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। मजदूरों का कार्य मजदूरों में है और कैंची का ऊपर उठने का कार्य कैंची में है। इसलिये कैंची उसके अपने कारण ऊपर उठी है, मजदूरों के कारण नहीं।

और सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कैंची स्वयं भी मूल वस्तु नहीं है; कैंची तो अनंत रजकणों समूह से उत्पन्न हुई संयोगी वस्तु है; वास्तव में एक रजकण ने दूसरे रजकण का स्पर्श ही नहीं किया है; कैंची का प्रत्येक रजकण स्वयं अपने भिन्न कार्य को कर रहा है; दो रजकण एकत्रित होकर एकमेकरूप से कार्य करते ही नहीं हैं। यदि इस प्रकार प्रत्येक रणकण के भिन्न-भिन्न कार्य को

समझे तो पर की क्रिया करने का अभिमान उड़ जाता है, और आत्मस्वभाव की ओर उन्मुखता हो जाती है।

और तर्क से देखें तो भी मजदूरों ने कैंची को उठाया, यह बात नहीं रहती; क्योंकि प्रत्येक मजदूर पृथक्-पृथक् है, एक मजदूर ने दूसरे को स्पर्श नहीं किया है; प्रत्येक मजदूर की शक्ति अपने-अपने में पृथक्-पृथक् है। सभी मजदूरों की शक्ति एकत्रित हुई ही नहीं है, तब फिर मजदूरों ने कैंची को उठाया—यह बात कहाँ रही? क्या एक मजदूर से सौ मन की कैंची उठती है? नहीं उठ सकती। यदि एक मजदूर से कैंची न उठे तो दूसरे से भी नहीं उठ सकती, तीसरे से भी नहीं उठ सकती, इसप्रकार किसी मजदूर से नहीं उठ सकती। तब फिर सब मजदूर एकत्रित होकर कैंची उठाएँ, यह बात भी नहीं रहती; क्योंकि प्रत्येक मजदूर की शक्ति अपने-अपने में हैं; किसी की शक्ति अपने में से निकलकर दूसरे में नहीं जाती, इसलिये दो मजदूरों की शक्ति कभी एकत्रित नहीं होती। देखो, यह वीतरागी-विज्ञान की दृष्टि! सामने कैंची में दो परमाणु एकत्रित होकर कार्य नहीं करते और यहाँ दो मजदूर एकत्रित होकर कार्य नहीं करते; इसलिये किसी के कारण दूसरे का कार्य हुआ—यह बात नहीं रहती। इसप्रकार समस्त वस्तुओं में परस्पर अकार्यकारणपना है।

आत्मद्रव्य का कार्य अन्य किसी वस्तु द्वारा नहीं होता और आत्मा अन्य किसी वस्तु के कार्य को नहीं करता; इसलिये आत्मा को धर्मकार्य किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता परन्तु एक अपने द्रव्य के आश्रय से ही धर्मकार्य होता है। 'अकार्यकारण' शब्द में जो 'अ' है, वह कार्य और कारण दोनों के साथ लागू होता है, अर्थात् आत्मद्रव्य पर का कार्य नहीं है और पर का कारण भी नहीं है। जो जीव वास्तव में समस्त परद्रव्यों के साथ अपना अकार्यकारणपना समझे, उसे स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मलकार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा में ऐसी शक्ति ही नहीं है कि वह पर के कार्य का कारण हो; और अपने कार्य के लिये पर कारण की अपेक्षा रखे—ऐसी पराधीनता भी उसमें नहीं है। ऐसा समझ ले, उसे कहीं भी पर के साथ "यह मेरा कार्य और यह मेरा कारण"—ऐसी एकत्वबुद्धि न रहे, इसलिये स्वभाव के आश्रय से निर्मलकार्य प्रगट हो। उसका कारण भी आत्मा स्वयं ही है, अन्य कोई कारण है ही नहीं; प्रत्येक समय की पर्याय स्वयं ही अपने कारण-कार्यरूप से वर्तती है। परमशुद्धदृष्टि में तो कारण-कार्य के भेद ही नहीं है; कारण-कार्य के भेद कहना, वह भी व्यवहार है।

निमित्तकारण द्वारा कार्य होता है—ऐसा जो माने, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्मा के

अकार्य-कारण स्वभाव का भान नहीं है। निमित्त की पहिचान कराने के लिये 'इस निमित्त से यह कार्य हुआ'—ऐसा कहा जाता है, परन्तु वह व्यवहार से ही है; वास्तव में निमित्त को कारण-कार्य होना मान ले तो उसके स्व-पर तत्त्व की एकत्वबुद्धि है, उसे यथार्थ कारण-कार्य की खबर नहीं है। कारण और कार्य पृथक्-पृथक् द्रव्यों में होते ही नहीं। कारण एक द्रव्य में हो और उसका कार्य दूसरे द्रव्य में हो—ऐसा नहीं हो सकता; तथापि जो ऐसा मानता है, उसे दो द्रव्यों में एकत्वबुद्धि है।

आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों स्वयं सिद्ध है। आत्मा किसी ईश्वर का कार्य नहीं है, अर्थात् किसी ईश्वर ने आत्मा को नहीं बनाया है; अमुक पदार्थ एकत्रित होकर उसमें से आत्मा उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है। और निमित्त द्वारा, पुण्य-पाप द्वारा या व्यवहार द्वारा आत्मद्रव्य की रचना नहीं हो सकती, अर्थात् उन किसी के द्वारा आत्मद्रव्य का अनुभव नहीं होता। कोई कहे कि व्यवहार के कारण आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की रचना हुई है, तो ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की रचना में आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं। आत्मा अपने कार्य में किसी अन्य की सहायता नहीं लेता और न स्वयं किसी अन्य का कारण होता है—ऐसी स्वयंसिद्ध अकार्यकारणत्व शक्ति उसमें त्रिकाल है। भले लाखों वर्ष तक भगवान की भक्ति करे, परन्तु पर के कारण आत्मा में कार्य हो—ऐसा गुण आत्मा में नहीं है, और उस भक्ति का राग कारण होकर उससे सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट हो जाये, ऐसा भी नहीं होता।

आत्मा का कार्य दूसरे से नहीं होता और आत्मा किसी अन्य की क्रिया नहीं करता। पर जीव बचा, वहाँ उसके बचने में आत्मा कारण नहीं है; शरीर के हलन-चलन या बोलने में आत्मा कारण नहीं है, पुण्य-पाप के परिणाम हों, उनमें भी आत्मद्रव्य कारण नहीं है;—ऐसा आत्मा की अकार्यकारणत्व शक्ति का सामर्थ्य है। ऐसा स्वभाव समझने से पर के ऊपर दृष्टि नहीं रहती परन्तु द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जड़ कर्म हों, उनका कारण आत्मा नहीं है। क्षणिक विकारी परिणाम हों, उनके कारणरूप से सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है; इसलिये ऐसे द्रव्य के सन्मुख देखनेवाले जीव को क्षणिक विकार की कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती। त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से विकार की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिये त्रिकाली द्रव्य विकार का कारण नहीं है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही उत्पत्ति होती है, इसलिये वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण हो - ऐसा द्रव्य का स्वभाव है।

व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा नहीं बनता। यदि व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा बनता हो तो

व्यवहाररत्नत्रय का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जाएगा! और, द्रव्य के आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह तो द्रव्य में अभेद है; इसलिये जिसप्रकार व्यवहाररत्नत्रय से द्रव्य नहीं बनता, उसीप्रकार निर्मल पर्याय भी उससे नहीं बनती। पर्याय, द्रव्य में से आती है या पर में से? पर्याय तो द्रव्य में से ही आती है; इसलिये पर्याय का पिता स्वद्रव्य है। स्वद्रव्य ही अपनी पर्याय का उत्पादक है। उसके बदले अन्य को उत्पादक मानना, वह कलंक है। जिसप्रकार पुत्र का जो पिता हो, उसके बदले किसी अन्य को पिता बतलाए तो वह लोकव्यवहार में कलंक है; उसीप्रकार निर्मल पर्यायरूप प्रजा का पिता द्रव्य है; द्रव्य के आश्रय से वह पर्याय प्रगट हुई है, उसके बदले अन्य को उसका कारण बतलाना, वह कलंक है। पुण्य-पाप में से, निमित्त में से या व्यवहार में से आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता, और द्रव्यदृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव उस पुण्य-पाप का या व्यवहार का कर्ता नहीं है। तब फिर आत्मा देश का, समाज का कुछ करे या शरीर का कुछ करे अथवा पैसादि के लेनदेन की क्रिया करे—यह बात तो है ही नहीं।

जड़ की या पर की क्रिया तो आत्मा से नहीं हुई है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि—पुण्य-पाप, आत्मा से हुए - ऐसा भी नहीं है। पर्यायदृष्टि में पुण्य-पाप होता है, परन्तु त्रिकाली दृष्टि से देखने पर आत्मा में पुण्य-पाप है ही नहीं; इसलिये आत्मा उसका कर्ता नहीं है। पर्यायबुद्धिवाला जीव यह बात यथार्थरूप से नहीं मान सकता। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि अनंत स्वभाव की मूर्ति है, उसमें कोई स्वभाव नहीं है कि जो विकार का कारण हो!—अथवा पर के कार्य को करे!

यह आत्मा हो तो जगत का कार्य हो—ऐसा नहीं है; और जगत के पदार्थ हों, उनके कारण आत्मा का कार्य होता है—ऐसा भी नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जो न पहिचाने, वह जीव आत्मा से अनभिज्ञ अर्थात् भान रहित है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं देखा है कि शरीर-मन-वाणी इत्यादि बराबर हों तो आत्मा में धर्म का कार्य हो; और आत्मा के कारण शरीर-मन-वाणी बराबर रहते हों, ऐसा भी कोई गुण भगवान ने नहीं देखा है। तो हे मूढ़! तू सर्वज्ञ से अधिक चतुर कहाँ से निकला! आत्मा से पर का कार्य कभी होता ही नहीं, तब फिर तू व्यर्थ पर का कर्तापन क्यों मानता है? यदि शरीर-मन-वाणी इत्यादि के कार्य आत्मा से होते हों तो उनसे आत्मा कभी पृथक् हो ही नहीं सकता और न अपना स्वकार्य करने के लिये उसे कभी निवृत्ति मिलेगी। इसीप्रकार द्रव्य स्वयं कारण होकर यदि पुण्य-पाप की रचना करे तो द्रव्य में से पुण्य-पाप कभी पृथक् ही न हो सकें, इसलिये वीतरागता तो न हो, परन्तु भेदज्ञान होने का अवसर भी न रहे।

इसलिये द्रव्य स्वयं विकार का कारण नहीं है। ऐसा समझने से स्वभाव और विकार का भेदज्ञान होता है और स्वभाव के अवलम्बन से विकार दूर होकर वीतरागता प्रगट होती है।

(१) यदि अपना कार्य दूसरे से होता हो तो अपने में कुछ करना नहीं रहता; स्वकार्य प्रगट करने के लिये अपने स्वभावसन्मुख देखना भी नहीं रहता। और

(२) यदि आत्मा, पर का कार्य करता हो तो वह पर की ओर ही देखता रहे, और अपना कार्य करने के लिये उसे अवकाश न मिले; इसलिये उसमें भी स्वसन्मुख देखना नहीं आता।

जिसे अपने आत्मा का हित करना हो और मोक्षमार्ग की साधना करना हो, वह जीव जगत की दरकार नहीं करता। "जगत का क्या होगा?"—ऐसी चिंता में पड़ा रहे तो आत्महित की साधना कब करेगा? जगत का तो उसके अपने कारण से जैसा होना है, वैसा हो रहा है; जगत का भार मेरे सिर पर नहीं है, मैं अपने आत्मा को साध लूँ;—इसप्रकार धर्मी जीव स्वसन्मुख होकर स्वयं अपना हित साध लेता है।

यहाँ भगवान कहते हैं कि—आत्मा में ऐसा अकार्यकारण स्वभाव है कि वह पर का कारण नहीं है, और पर का कार्य भी नहीं है। इस शरीर के परमाणुओं में आत्मा का निवास नहीं है। शरीर से आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता, और आत्मा से शरीर का कोई कार्य नहीं होता, तथापि अज्ञानी जीव, पर का मोह करता है। पर में कर्तृव्य का राग और ज्ञातामात्रस्वभाव पर द्वेषरूप तिरस्कार को करता है।

प्रत्येक आत्मा में अनंतशक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। मेरी अनंतशक्तियाँ मुझ में हैं—ऐसा यदि जीव जान ले तो उसे अपनी अनंत महिमा आये और पर की महिमा दूर हो जाये, और क्षणिक विकार की महिमा भी दूर हो जाये, इसलिये पर का स्वामित्व छोड़कर स्वयं अपनी शक्ति की सँभाल करके सिद्धदशा की साधना करे। संसारी जीव अनादि से अपनी निजनिधि को भूल रहा है; उसे सर्वज्ञदेव उसकी निधि बतलाते हैं। जिसप्रकार पुत्री को ससुराल भेजते समय दहेज देते हैं; उसीप्रकार जीव को सिद्धदशारूपी ससुराल भेजने के लिये केवली भगवान दहेज देते हैं। कोई पूछे कि—यह आत्मा की अनंतशक्तियों की बात किसलिये सुनाते हो? तो कहते हैं कि अब तुझे संसार से सिद्धदशा में भेजना है, इसलिये तुझे तेरी ऋद्धि सौंपी जा रही है। 'तो आत्मा के साथ क्या देंगे?'—आत्मा में अपनी अनंतशक्ति है, उसे बतलाकर उसकी अनंती निर्मल पर्यायें प्रगट करके आत्मा को सिद्धदशा में साथ भेजेंगे। उसका उपभोग सादि-अनंतकाल तक सिद्धदशा

में साथ रहेगा अर्थात् आत्मा की अनंतशक्तियों की प्रतीति करे, उसके अल्पकाल में ऐसी सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

'अहो! मेरी अनंतशक्ति मुझमें है, अपने हित के लिये मुझे किसी अन्य का आश्रय नहीं है'—ऐसा समझने से दृष्टि बदल जाती है। जो ऐसा समझा उसने संसार के साथ का सम्बन्ध तोड़कर आत्मा की सिद्धदशा के साथ सम्बन्ध बाँधा है। जिसप्रकार पुत्री जबतक माता-पिता के गृह में होती है, तबतक तो ऐसा मानती है कि यह मेरा घर है, और यह हमारी सम्पत्ति है; परन्तु सगाई होते ही उसकी दृष्टि पलट जाती है कि यह घर और सम्पत्ति मेरी नहीं है, यह सब मेरे साथ नहीं आयेंगे; किन्तु जहाँ सगाई हुई है, वह घर और उसकी सम्पत्ति मेरी है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव अनादिकाल से संसार में पल रहा है; शरीर सो मैं हूँ, पुण्य-पाप मैं हूँ—इसप्रकार बालकरूप से वह मान रहा है। अब अनंतशक्ति के पिण्ड अपने भगवान आत्मा के साथ उसकी सगाई कराके ज्ञानी कहते हैं कि देख भाई! तुझे सिद्ध होना है न! ...'हाँ'... तो तेरे साथ तेरे अनंत-गुणों की ऋद्धि आयेगी; परन्तु यह शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, कुटुम्ब अथवा पुण्य-पाप कोई तेरे साथ नहीं आयेंगे। तेरे अनंतगुणों की ऋद्धि सदैव तेरे साथ रहती है, परन्तु शरीर या पुण्य-पाप वे कोई तेरे साथ सदैव रहनेवाले नहीं हैं।—ऐसा समझते ही जीव की दृष्टि पलट जाती है कि अहो! मेरी अनंत शक्तियाँ मुझमें हैं; उनका ही मैं स्वामी हूँ; वही मेरा स्वरूप है; उन्हें भूलकर मैंने भ्रम से शरीर तथा पुण्य-पाप को अपना स्वरूप माना था, परन्तु वे कोई मेरा स्वरूप नहीं हैं, वे कोई मेरे साथ रहनेवाले नहीं है। देखो, सत्य समझते ही दृष्टि पलट जाती है; परसन्मुखदृष्टि थी, वह छूटकर स्वसन्मुखदृष्टि हो जाती है; उसमें अपूर्व पुरुषार्थ है।

धर्मात्मा समझता है कि त्रिकाल स्थित रहनेवाला अनंतशक्तिरूप स्वभाव है, सो मैं हूँ, और क्षणिक राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ, जगत की वस्तुयें मुझे कारण नहीं है; उनसे मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, और मेरे कारण जगत की वस्तुयें नहीं है;—इसप्रकार धर्मात्मा जीव, पर का स्वामित्व छोड़कर अपनी स्वभावऋद्धि का स्वामी होता है। पर से लाभ-हानि होते हैं—ऐसी दृष्टि उसके छूट गई और आत्मा के साथ सगाई की।

अहो! ज्ञानी कैसी मिष्ट-मधुर बात करते हैं! परन्तु अज्ञानी जीव को अनादिकालीन मोह है; इसलिये ऐसी हितकारी सत्य बात उसे नहीं रुचती; और उल्टा झुँझला उठता है। भाई! तेरे अनंतगुण त्रिकाल तेरे साथ रहनेवाले हैं; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप या शरीर, कुटुम्बादि कोई तेरे

साथ नहीं आयेंगे। इसलिये पर मेरा कारण और मैं पर का कारण—ऐसी बुद्धि छोड़; पर के साथ जो कारणकार्यपना माना है, वह मिथ्यात्व है। यहाँ तो कहते हैं कि उस मिथ्या मान्यता का कारण भी त्रिकाली आत्मद्रव्य नहीं है, परन्तु जो ऐसा समझे, उसकी पर्याय में मिथ्यात्व रहेगा ही नहीं।

और उपादान-निमित्त की बात सुनकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भाई! जगत के कार्य तो उसके उपादान से होते हैं, हम तो मात्र उसके निमित्त हैं। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई! अपनी दृष्टि में से एकबार पर के साथ का सब सम्बन्ध तोड़ दे! निमित्त होने की जिसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; जिसकी दृष्टि अनंत गुण के पिण्ड आत्मा पर है, उसकी पर के ऊपर दृष्टि ही नहीं है, इसलिये 'मैं पर को निमित्त हूँ'—यह बात उसकी दृष्टि में कहाँ रही? पर का निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है, उसके स्वसन्मुख दृष्टि नहीं है परन्तु उसकी दृष्टि परोन्मुख है। स्वसन्मुखदृष्टि में तो आत्मा को पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना पर्याय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। त्रिकाली आत्मा तो पर का या राग-द्वेष का निमित्तकारण भी नहीं है; यदि त्रिकाली आत्मा, रागादि का निमित्तकरण हो तो वह निमित्तपना कभी दूर नहीं हो सकता; सिद्ध में भी राग-द्वेष होते रहेंगे। इसलिये त्रिकाली स्वभाव राग-द्वेषादि का निमित्तकारण भी नहीं है। पर्याय का अशुद्ध उपादान, वह राग-द्वेषादि का कारण है, परन्तु वह एक समयपर्यंत का है, उसकी यहाँ बात नहीं है; यहाँ तो आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की बात चल रही है। पुण्य-पाप आत्मा के अशुद्ध उपादान से होते हैं और कर्म उसमें निमित्त है—यह दोनों बातें पर में जाती हैं; आत्मा के शुद्धस्वभाव में वह कुछ है ही नहीं।

देखो, यह तो द्रव्यदृष्टि के अजरप्याले की बात है। ऐसी दृष्टि पचाने के लिये अंतर में जीव को कितनी पात्रता होती है! सद्गुरु के प्रति विनय, बहुमान तथा वैराग्यादि की योग्यता उसमें होती ही है। चाहे जैसे स्वच्छन्दपूर्वक वर्ते और यह बात समझ में आ जाये—ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानप्रधान वर्णन में यह सब बात विस्तारपूर्वक आती है; इस समय तो दर्शनप्रधान वर्णन चल रहा है।

आत्मसिद्धि में कहा है कि:—

'सर्व जीव छे सिद्धसम जे समजे ते थाय।'

इसमें आत्मा के स्वभाव की और उसे समझने की बात की है। परन्तु उसे समझनेवाले जीव को कैसे निमित्त होते हैं?—कि—'सद्गुरु आज्ञा जिनदशा निमित्तकारणमांय।' सर्वज्ञ-वीतराग जिनदशा कैसी होती है, उसका विचार और सद्गुरु की आज्ञा उस आत्मा का स्वरूप समझने में

निमित्तकारण हैं; कुदेव-कुगुरु को मानता हो और आत्मा का स्वरूप समझ जाये—ऐसा नहीं हो सकता; उसके लिये यह बात की है। द्रव्यदृष्टि के विषय में अकेला अभेद आत्मा ही है,उसमें निमित्त की बात नहीं आती। ऐसी अभेद दृष्टि से ही विकल्प टूटकर निर्विकल्प का अनुभव होता है। आत्मा अकारण स्वभाव है, उसका अनुभव करने के लिये कोई अन्य कोई कारण है ही नहीं। देव-गुरु का विचार करे, अथवा आत्मा है, वह नित्य है—इसप्रकार भेद से आत्मा के विचार करे, तो वह भी वास्तव में आत्मानुभव का कारण नहीं है। अपने अनुभव में व्यवहार की या पर की सहायता लेना पड़े—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। और आत्मा पर का कारण हो—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

प्रश्न:— क्या आत्मा के बिना बोला जा सकता है ? मुर्दे क्यों नहीं बोलते ? आत्मा हो तो भाषा बोली जाती है; इसलिये भाषा का कारण आत्मा है या नहीं ?

उत्तर :— आत्मा की उपस्थिति हो और भाषा बोली जाये, उस समय भी उस भाषा का कारण आत्मा नहीं है, परन्तु जड़ परमाणुओं के कारण भाषा हुई है। यदि भाषा का कारण आत्मा हो तो जबतक आत्मा हो, तबतक भाषा निकालती ही रहे ! शरीर ठीक रहे, वह जड़ की क्रिया है, आत्मा के कारण शरीर ठीक नहीं रहता। सर्प काटे और विष चढ़ जाये, उससमय आत्मा होने पर भी क्यों अचेत पड़ा रहता है ?—वह जड़ का कार्य है, आत्मा उसका अकारण है। शरीर निरोगी हो, वज्रर्षभनाराचसंहनन हो, ब्रह्ममुहूर्त का समय हो, निर्जन वन हो, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की उपस्थिति हो, तो यह सब बाह्य पदार्थ कारण होकर आत्मा का कुछ कर देंगे—ऐसा जो मानता है, उसे आत्मा के अकार्यस्वभाव की खबर नहीं है; किन्हीं अन्य कारणों से आत्मा का कार्य हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा पर का कारण-कार्य हो तो वह एकद्रव्यस्वरूप न रहकर अनेकद्रव्यस्वरूप हो जाये। परन्तु आत्मा तो पर का कारण नहीं है और पर का कार्य भी नहीं है—ऐसा एकद्रव्यस्वरूप है; ऐसा उसका अकार्यकारणस्वभाव है। ऐसे स्वभाव को दृष्टि में लेने से मुक्तिरूपी कार्य प्रगट हो जाता है।

आत्मा की अनंतशक्ति का स्वयं में ही समावेश है। पर से तो वह बिलकुल भिन्न है, इसलिये पर का कुछ करे, ऐसी आत्मा की एक भी शक्ति नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि आत्मा में तो अनंतशक्ति है; इसलिये वह पर का भी कर सकता है ! परन्तु ऐसा माननेवाला मूढ़ है, उसने आत्मा को या आत्मा की शक्तियों को जाना ही नहीं है। आत्मा की अनंतशक्तियों का कार्य आत्मा में होगा

या आत्मा से बाहर के पदार्थों में होगा ? और यदि आत्मा पर का कार्य करे, तो क्या परपदार्थों में उनका अपना कार्य करने की शक्ति नहीं है ? आत्मा पर का करता है—ऐसा माननेवाले ने परद्रव्यों की शक्ति को भी नहीं जाना है और पर से भिन्न अपनी आत्मशक्ति को भी नहीं जाना है।

आत्मा में एकसाथ अनंतशक्तियाँ होने पर भी, आत्मा ज्ञायक है, आत्मा ज्ञानस्वभाव है—ऐसा कहकर आत्मा की पहिचान करायी जाती है। वहाँ ज्ञान कहने से दूसरी अनंतशक्तियाँ भी ज्ञान के साथ आ जाती हैं—ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। यह बात स्पष्ट करने के लिए आचार्यदेव ने आत्मा की कुछ मुख्य-मुख्य शक्तियों का वर्णन किया है। अनंतशक्तियाँ हैं, वे सब वचनगोचर नहीं हो सकतीं; वचन में तो अमुक ही आ सकती हैं। अनंतशक्तियों को एकसाथ प्रतीति में लेते हुए शक्तिमान अभेद आत्मा दृष्टि में आ जाता है और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है और उसमें अपनी अनंतशक्तियाँ अनादि-अनंत हैं। अहो ! विचार तो करो कि आत्मा में अनंतशक्तियाँ हैं तो उसकी महिमा कितनी !! जीव ने अपनी महिमा का कभी यथार्थरूप से विचार किया ही नहीं। केवलज्ञान तो जिसके एकगुण की मात्र एक समय की पर्याय; ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायें होने का एक ज्ञानगुण का सामर्थ्य है; और ऐसे अनंत गुण जिसमें विद्यमान हैं, उस वस्तु की महिमा की क्या बात !! उस वस्तु की महिमा समझे तो उसमें अन्तर्मुख होकर आनंद का वेदन करे !

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्तिस्वभाव से त्रिकाल सत् है; उसके अस्तित्व में अन्य कोई पदार्थ कारणरूप नहीं है; कोई ईश्वरादि उसका कर्ता नहीं है। आत्मा किसी कारण से नहीं बना है किन्तु स्वयंसिद्ध वस्तु है। किसी भी परवस्तु को या उसके कार्य को आत्मा नहीं करता और आत्मा को या आत्मा के किसी कार्य को परवस्तु नहीं करती। इसप्रकार आत्मा किसी का या पर का कारण नहीं है। शरीरादि जड़ पदार्थों में जो कार्य होता है, उसका कारण आत्मा नहीं है, तथा आत्मा में जो कार्य होता है, उसमें जड़ पदार्थ कारण नहीं हैं। आत्मा का ऐसा त्रिकाली स्वभाव है कि स्वयं किसी का कार्य या कारण नहीं है। इसलिये आत्मा किसी अन्य का कार्य नहीं है, और न स्वयं कारणरूप होकर किसी के कार्य को उत्पन्न करता है। कोई पर कारण हुआ और आत्मा उसके कार्यरूप से उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है; तथा आत्मा कारण हुआ और कोई परद्रव्य उसका कार्य हुआ—ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार किसी भी परवस्तु के द्रव्य, गुण या पर्याय के साथ कार्य-कारणसंबंध से रहित एक द्रव्यरूप—ऐसा आत्मा का अकार्य-कारणस्वभाव है। आत्मवस्तु में ज्ञानादि अनंत गुणों

के साथ एक ऐसी ''अकार्यकारण'' शक्ति भी है। ''अकार्य''—आत्मा के द्रव्य, गुण या पर्याय पर से नहीं हुए हैं; और ''अकारण'' आत्मा स्वयं परवस्तु के द्रव्य-गुण या पर्याय को नहीं करता।

प्रभु! तेरे आत्मा में जिसप्रकार जाननेरूप ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसीप्रकार किसी अन्य का कार्य या कारण न हो—ऐसा अकार्य-कारण स्वभाव भी उसमें त्रिकाल है। देखो, ऐसी समझ में तो महान सम्यक् एकान्त है, अर्थात् ज्ञान, पर की लीनता से विमुख होकर अपने स्वभाव में स्थित होता है। ''मेरा कोई करता है, अथवा मैं किसी का करता हूँ''—ऐसी मान्यता में तो स्वपर की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या एकान्त हो जाता है; परन्तु ''मैं किसी का कार्य या कारण नहीं हूँ; मेरा कोई कर्ता नहीं है''—ऐसे ज्ञान में स्व-पर की पृथकतारूप अनेकान्त है। पर में एकत्वबुद्धि, वह मिथ्या एकान्त है और स्व में एकत्वबुद्धि, वह सम्यक्-एकान्त है, और स्व-पर के भेदज्ञान की अपेक्षा से वही सम्यक् अनेकान्त है। जो जीव, परपदार्थों के साथ अपना कार्य-कारणपना मानता है, उसे स्व-पर की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व है; ऐसे जीव को मुनित्व का या श्रावकत्व का कोई धर्म होता ही नहीं और उनका व्रतादि शुभराग, व्यवहाराभास है, उपचार से भी धर्म का कारण नहीं।

कोई पूछे कि ''मैं किस कारण हूँ? मैं न होऊँ तो क्या आपत्ति है?''

उत्तर :— अरे भाई! ''मैं न होऊँ''—इसका अर्थ क्या? तू तो सत् है, तेरा अकारण स्वभाव है; इसलिये तेरे अस्तित्व में कोई कारण है ही नहीं। प्रश्नकर्ता तू स्वयं बैठा है; फिर ''न होऊँ तो''—यह बात ही कहाँ रही? तथा तू जगत की सत् वस्तु है, तो सत् को अन्य कौन कारण होगा? इसलिये द्रव्य का कोई कारण है ही नहीं।

और कोई ऐसा पूछे कि—द्रव्य का कारण भले कोई न हो, परन्तु ''मैं चेतन हूँ और जड़ नहीं हूँ''—इसका कारण क्या? कोई द्रव्य चेतन और कोई जड़—इसका क्या कारण?

उत्तर:— जो चेतन है, वह अपने स्वभाव से ही चेतन है, और जो जड़ है, वह अपने स्वभाव से ही जड़ है, उस स्वभाव में कोई कारण है ही नहीं; इसलिये यह चेतन क्यों और यह जड़ क्यों—ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता।

इसीप्रकार कोई पर्याय में भी ऐसा पूछे कि—''इससमय ऐसी ही पर्याय क्यों हुई? दूसरी क्यों न हुई?'' तो उसका उत्तर यह है कि—उस द्रव्य का पर्यायस्वभाव ही वैसा है। जिस द्रव्य में जिससमय जो पर्याय होने का स्वभाव हो, वही होता है, अन्य पर्याय नहीं होती—ऐसा उसका स्वभाव है; उसमें अन्य कोई कारण नहीं है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में अकार्यकारणस्वभाव विद्यमान है। ''ऐसा क्यों ?''—ऐसा कारण ढूँढ़ना नहीं रहता। द्रव्य-गुण-पर्याय जिसप्रकार सत् है, उन्हें वैसा ही जान लेना आत्मा का स्वभाव है; जानने में बीच में ''ऐसा क्यों ?''—ऐसा प्रश्न उठाने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

प्रश्नः—वस्तु में अकार्यकारणशक्ति है; इसलिये त्रिकाली द्रव्य को या गुण को तो पर का कार्यकारणपना नहीं है—यह बात ठीक है; परन्तु पर्याय तो नवीन प्रगट होती है, इसलिये उसका कारण तो पर है न ? पर्याय में तो पर का कार्य-कारणपना है न ?

उत्तरः—जो अकार्यकारणस्वभाव है, वह द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान है; इसलिये जिसप्रकार द्रव्य-गुण का कारण कोई अन्य नहीं है, उसीप्रकार पर्याय का कारण भी अन्य कोई नहीं है। अरे भाई! क्या त्रिकाली द्रव्य कभी भी वर्तमान पर्यायरहित होता है ? द्रव्य अपनी किसी न किसी पर्यायसहित ही होता है; पर्यायरहित द्रव्य कभी होता ही नहीं। यदि पर्याय का कारण पर को कहा जाये तो उसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य स्वयं पर्यायरहित अर्थात् द्रव्य ही नहीं है। भेद करके कहना हो तो द्रव्य कारण और पर्याय कार्य—ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि पर्याय उस द्रव्य की ही है। परन्तु यहाँ तो यह भेद की बात ही नहीं लेना है; यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय—तीनों को अकारण सिद्ध करना है। तब फिर पर्याय का कारण परवस्तु है—यह तो बात ही कहाँ रही ? जिसने अकार्यकारणरूप द्रव्यस्वभाव को स्वीकार किया, उसकी पर्याय भी अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद हुई है, इसलिये वह पर्याय भी रागादि अशुद्धता का कार्य-कारण नहीं है। और यदि पर का कार्यकारणपना माने तो वह पर्याय परसन्मुख है, उसने अन्तर के द्रव्य को स्वीकार नहीं किया है, उसकी दृष्टि भिन्न कारण-कार्य पर नहीं होती।

प्रत्येक शक्ति के वर्णन में खूब रहस्य है। इस एक अकार्यकारणशक्ति को बराबर समझे तो आत्मा की स्वतंत्रता समझ में आ जाये; पश्चात चाहे जैसे संयोगों में भी ऐसा न माने कि पर के कारण मुझे कुछ होता है; और यह भी न माने कि मैं पर का कुछ कर देता हूँ; इसलिये उसकी प्रतीति में कहीं भी रागद्वेष करना नहीं रहा। ऐसी वीतरागी श्रद्धा होने के पश्चात अल्प राग-द्वेष हों, वहाँ धर्मी जानता है कि यह राग-द्वेष कोई पर नहीं कराता और न इन राग-द्वेषों के द्वारा मैं पर के कोई कार्य कर सकता हूँ; मेरे निर्मल द्रव्यस्वभाव में यह राग-द्वेष हैं ही नहीं, इसलिये मेरा द्रव्य भी राग का कारण नहीं है, मात्र अवस्था की उसप्रकार की भूमिका है परन्तु उतना ही मेरा स्वरूप नहीं है।

इसप्रकार धर्मी जीव को सर्व समाधान और विवेक वर्तता है।

आत्मा का अकार्यकारणस्वभाव होने से उसका त्रिकाल परवस्तु के कारण बिना ही चल रहा है; आत्मा को अपने कार्य के लिये परवस्तु की आवश्यकता हो—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। तथापि, मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता—ऐसा अज्ञानी मान बैठा है, वह उसका मिथ्या अभिप्राय है। यह मिथ्या अभिप्राय ही संसार का मूलकारण है। जहाँ मिथ्या अभिप्राय हो, वहाँ तीव्र राग-द्वेष हुए बिना नहीं रह सकते।

मैं एक स्वत:सिद्ध वस्तु हूँ, मेरा कोई कारण नहीं है और न मैं किसी का कारण हूँ। यदि मुझे पर के साथ कारण-कार्यपना हो तो स्वपर की एकता हो जाए, इसलिए मैं पर से भिन्न एक स्वद्रव्य ही न रहूँ किन्तु परद्रव्यरूप हो जाऊँ! परन्तु मैं तो मेरा एक द्रव्यस्वरूप ही हूँ; किसी भी परद्रव्य के साथ मुझे कारण-कार्यपना नहीं है।—ऐसी यथार्थ समझ करना, वह संसार के नाश का कारण है।

—इस प्रकार अकार्यकारणत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

सम्यग्दर्शन के लिये आत्मार्थी का उल्लास
और
निर्विकल्प अनुभूति

सम्यग्दर्शन सन्मुख हुए जिज्ञासु जीव का अपना कार्य करने का अत्यंत उल्लास होता है, इसलिये अंतरंग-प्रीति से उसका उद्यम करता है। अपना कार्य यानी सम्यग्दर्शन; सम्यग्दर्शन करना ही उसके जीवन का ध्येय है—वही उसके जीवन का साध्य है; इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये निरन्तर उल्लासपूर्वक प्रयत्न करता है; उसमें प्रमाद नहीं करता। अपना आत्मकार्य साधने के लिये आत्मार्थी के परिणाम निरन्तर उल्लासमान होते हैं। सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अन्य कार्य अपना भासित नहीं होता, इसलिये उसमें रस नहीं है; निजकर्तव्य को एकक्षण भी अन्तर से नहीं भूलता।—ऐसा जीव अल्पकाल में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

तत्त्वविचार करके भी जब अन्तर में स्वरूप सन्मुख हो, तभी निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है। मात्र तत्त्वविचार ही कहीं सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन कब हुआ कहलाता है ?—कि जब स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो—तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है; वही यथार्थ प्रतीति है; इसके बिना यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। तत्त्वविचार के पश्चात् अन्तर्मुख होकर स्वरूप की निर्विकल्प अनुभूति न करे, तब तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पाता। अंतर में चैतन्यस्वभाव की महिमा करके उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना—प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करना—ही सम्यग्दर्शन है। [—प्रवचन से]

धर्मकथा का श्रवण

भगवान की या ज्ञानी की वाणी सुनकर जो जीव उसका आशय समझकर अपने में अभेदस्वभाव के अवलम्बन से धर्म प्रगट करता है, उसी ने वास्तव में धर्मकथा सुनी है। जिसे आत्मा के चैतन्यस्वभाव की दृष्टि तो हुई नहीं है और राग तथा भेद के आश्रय से धर्म होना मानता है, वह तो अकेले अधर्म का ही पोषण करता है; ऐसे जीव ने धर्म की कथा (शुद्ध आत्मा की कहानी) वास्तव में कभी सुनी ही नहीं है, परन्तु बन्ध की ही कथा सुनी है; भगवान की वाणी सुनते समय भी वास्तव में तो वह बंधकथा ही सुन रहा है, क्योंकि उसकी पराश्रय-व्यवहार की रुचि का जोर बंधभाव पर है, परन्तु अबंध आत्मस्वभाव की ओर उसकी रुचि का जोर नहीं है।

भले ही समवशरण में बैठा हो, और तीर्थंकरदेव की वाणी कानों में पहुँच रही हो, परन्तु उससमय जिस जीव की ऐसी मान्यता है कि 'ऐसी श्रेष्ठ वाणी के कारण मुझे ज्ञान हुआ, अथवा इस श्रवण के शुभराग से मुझे ज्ञान हुआ'—तो वह जीव वास्तव में भगवान की वाणी नहीं सुनता, परन्तु बंधकथा ही सुनता है; भगवान की वाणी का अभिप्राय वह समझा ही नहीं है। अनंतबार समवशरण में जाकर अज्ञानी ने क्या किया ?—बंधकथा ही सुनी, किन्तु धर्मकथा नहीं सुनी। 'निमित्त से मेरा ज्ञान नहीं होता, राग से भी मेरा ज्ञान नहीं होता और न मेरा ज्ञानस्वभाव, राग का कर्ता है, मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, ज्ञानस्वभाव के अवलंबन से ही मेरा ज्ञान होता है'—ऐसी ज्ञानस्वभाव की रुचि और सन्मुखतापूर्वक जिसने एकबार ज्ञानी के निकट शुद्ध आत्मा की बात सुन ली, उसने धर्मकथा का सच्चा श्रवण किया है, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त किए बिना नहीं रहेगा।

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, वीर शासन जयन्ती के सुअवसर पर सोनगढ़ में भाई श्री छोटालाल रायचंद खंधार (चूड़ावाला) तथा उनकी धर्मपत्नी कान्ताबेन-इन दोनों ने पूज्य गुरुदेव के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी, अतः धन्यवाद।

धार्मिक प्रवचन के विशेष दिन

सोनगढ़ में भाद्रपद कृष्णा १३, गुरुवार ता. २६-८-५४ से भाद्रपद शुक्ला ५, गुरुवार ता. २-९-५४ तक के आठ दिन धार्मिक दिवस के रूप में मनाये जायेंगे और जिनमें पू. गुरुदेव के विशिष्ट प्रवचन होंगे। इन दिनों बहुत से मुमुक्षुओं को कामकाज से निवृत्ति का अधिक अवकाश रहता है। अतः वे भी लाभ ले सकें, इस दृष्टि से यह आठ दिन रखे गये हैं।

श्री मानस्तंभ फंड खाते बाकी रही रकमें

श्री मानस्तंभ फंड खाते लिखाई गई अथवा प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर बोली गई निम्नलिखित रकमें आना बाकी हैं। जिनकी रकमें बाकी हैं, उनके पूरे पते मिलते नहीं, अतः उन नामों की सूची यहाँ दी जा रही है। जिन भाई-बहिनों की रकमें बाकी हों, वे याद कर अपने पूरे नाम पते सहित भिजवाने की कृपा करें।

व्यवस्थापक

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़

१०१) धनीबाई

६१) झबक बेन

५१) जयाकुंवरबेन

११) गोकलदास गुलाबचंद

३१) खेमचंद छगनलाल अजमेरा

१०२) सेठ मानमलजी

११) रतिलाल वर्धमान मोदी

५१) शारदाबेन जयंतीलाल सेठ

५१) वल्लभदास मथुरदास

५१) वासंतीबेन

१०१) जयंतीभाई, राजकोट

४०) छगनलाल बेचरदास (आरती के)

६२) कल्याणमल फूलचंद, कलकत्ता

१०१) नंदलाल जैन, कलकत्ता

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।